



सांप्रदायिक दंगों के बीच उर्दू कविता (संदर्भ : 1990 ई0 से अद्यतन)

शिवम सिंह

शोध छात्र, हिन्दी साहित्य, म0गा0अ0हि0वि0वि0, वर्धा, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

बीसवीं सदी का आखिरी दशक कई मायनों में बहुआयामी रहा। एक ओर जहाँ वैश्विक पटल पर सोवियत संघ के बिखराव, शीत युद्ध की समाप्ति के साथ ही दुनिया एक ध्रुवीय होती है तथा आतंकवाद जैसे हिंसात्मक शब्द की गूँज भी सुनाई देनेी शुरू होती है। वहीं, दूसरी ओर घरेलू स्तर पर 1990 ई0 का काल आर्थिक उदारीकरण एवं सांप्रदायिकता के लिए काफी उर्वर रहा। विश्व ग्राम का भेष धारण किये मुक्त व्यापार व्यवस्था ने भारतीय समाज को एक कुटिल छंद में कसना शुरू किया। इसने समाज को क्रेता-विक्रेता, उपभोक्ता-उत्पादक खेमों में बांटकर अर्थ आधारित समाज व्यवस्था की नींव डाली। भूमण्डलीकरण ने हम पर एक तरह के विचार खान-पान व व्यवहार को थोपा तथा हमारी विभिन्नता, हमारी सामूहिक संस्कृति को छिन्न-भिन्न कर बाजारवादी रास्ते पर चलने को विवश किया।

इन्हीं परिस्थितियों के समानांतर समाज में सुप्त पड़ी सांप्रदायिकता को एक विशेष जमात के स्वयंभू धर्म ध्वजा वाहकों द्वारा जगाया जाने लगा। पूरे देश में तथाकथित साधु व साध्वियों द्वारा धर्म, संस्कृति एवं परंपरा के नाम पर विछिप्तता की हद तक लोगों को उन्मादित किया जाने लगा तथा 'बहुसंख्यक' की एक नई परिभाषा गढ़ी जाने लगी। इतिहास को पीछे से न देखकर, बल्कि इतिहास को ही पीछे धकेला जाने लगा। बकौल राजेंद्र यादव हिंदुत्व का इस्लामीकरण होने लगा। पुराणों, मिथकों एवं लोक विश्वासों को ही इतिहास बताया जाने लगा। अर्थात् इतिहास के एक नये पाठ का पठन शुरू होता है। हिंदू परंपरा का सबसे समादृत नाम राम जो अपने मूल अर्थ में रहमवाची है, प्रसाद और माधुर्य गुणों से युक्त है, उसे ओज और रौद्र जैसे भावों में तब्दील कर विध्वंसक जोश से लबरेज हो 'जै श्री राम' का उद्घोष होने लगा।

इतिहास के इसी पाठ के मार्फत भारतीय समाज, खासकर उत्तर भारत में घूम-घूमकर स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जाने लगी। हमारी मानसिक, सामाजिक बनावट व बसावट को हिंदू-मुस्लिम किया जाने लगा। हम हिंदू हैं तो श्रेष्ठ है, हमारी संस्कृति, परंपरा, लोक विश्वास, पूजा पद्धति आदि सब उत्कृष्ट हैं और उनका समाज मक्कार, देश द्रोही है। उनकी तहजीब रवायत आदि के विषय में भी कुपाट किया जाने लगा। कुल जमा यह कि इनको यहाँ से भगा देना चाहिए, इनके स्मारकों, पूजा स्थलों को ढहा देना चाहिए। ऐसी बातें जोर-शोर से होने लगीं। जो मुसलसल आज भी किसी न किसी रूप में जारी हैं।

ऐसी परिस्थिति में साहित्य या अदब अपनी प्रगतिशीलता, जन सरोकारिता और सामाजिक भूमिका को कैसे पीठ दिखा सकता है? यहाँ यह रेखांकित करने योग्य है कि ये सारे उपक्रम प्रधानतया हिंदी के साथ ही उर्दू की जमीन पर भी हो रहे थे।

ऐसे में उर्दू ज़बान जो अपने अंतस में नज़ाकत, नफ़ासत, मुहब्बत व

मुलामियत जैसे भावों से युक्त भले हो किंतु उसने इन संगठित गिरोहों द्वारा संचालित, क्रूशंसताओं, अपराधों, नापाक हरकतों और जुल्मों सितम जैसे गैर मामूली वाक्यातों की पर्त दर पर्त उखाड़ा भी है। तथा उनके बरक्स मुकाबले की मशाल को भी रोशन किये हुए है। काबिले जिक्र है, जबैर रिज़वी का यह कथन- "विचार और रचनात्मकता के स्तर पर उर्दू साहित्य ने हमेशा अन्याय, अत्याचार, शोषण और कट्टरता के विरुद्ध लिखते हुए हवा के सामने जलने वाले चिरागों को अपने हाथों पनाह दी है। पिछले पचास वर्षों में सच्चे और खरे आदमी को जिस तरह समाज से बहिष्कृत करने के प्रयास किये गये लोगों को विभाजित और धार्मिक कट्टरता का जो खेल खेला गया है उसके विरोध की आवाज उर्दू साहित्य में स्पष्ट सुनाई देती है।" इस जबान के कलमकारों ने बहैसियत इन अलगाववादी शक्तियों पर, फिरकापरस्त ताकतों पर, दंगा फसादों पर संवेदी ढंग व करीने से अपनी कलम चलायी है। वस्तुतः इन अदीबों के पुरखा शायर मीर बहुत पहले ही फरमाते हैं- शेर मेरे हैं, सब ख़वास पसंद/पर मुझे गुप्तगू अवाम से हैं। अर्थात् मेरी बातचीत, मेरा ताल्लुक जनता से है। जनता के दुःख दर्दों में मैं साझी हूँ। इसी साझी संस्कृति पर जब कुछ उन्मादी, मजहबी फिरकों द्वारा घात लगाने की कोशिश की जाती है, तब उर्दू नज्मों, गजलों और अशआरों में इसके विरुद्ध आवाज बुलंद की जाती है। उर्दू अदब के मशहूर शायर कैफ़ी आजमी बहुत गौर से अपनी नज़्म 'दूसरा बनवास' में फरमाते हैं कि वे राम जो पारविवारिक क्लेश और कलह के बचाव हेतु वन गमन करते हैं। वहीं आज उन्हीं के भक्तों, अनुयायियों ने उनके गृह नगर अयोध्या को, जहाँ प्यार की, सौहार्द की कहकशाएँ लेती थी अगड़ाईयों उसी का सीना चाक कर दिया है, सरयू की धारा को रक्त रंजित कर दिया है। राजेन्द्र यादव की जबान में, "इसमें राम जब बनवास काटकर अयोध्या लौटते हैं तो बजरंगियों की हरकतें देखकर माथा टोक लेते हैं मस्जिद-ध्वंस पर फिर से बनवास पर निकल जाते हैं- दूसरा बनवास आत्मनिर्वासन था : लौटकर उन्हीं जिन जंगल को अपने घर में पाया था उससे पलायन ही उनका दूसरा बनवास था"²

"राम बनवास से जब लौट कर घर में आये
याद जंगल बहुत आया, जो नगर में आये
रक्से दिवानगी आंगन में जो देखा होगा
X X X
राजधानी कि फिज़ा आई नहीं रास मुझे
6 दिसम्बर को मिला दूसरा बनवास मुझे"³

कैफ़ी आजमी की एक और कविता 'लखनऊ तो नहीं' जो इन दंगों के कुछ पहले रची गयी थी, जिसमें वे परेशान हैं, अमन और खैर पसन्द शहरों में बदउनवानियाँ वहशत व बदअमनी फैलाने को

लेकर—

“ब गौर देखों ये इस्लाम का लहू तो नहीं
तुम इसका रख लो कोई और नाम मौजू सा
किया है खून से जो तुमने वो वजू तो नहीं
समझ के माल मेरा जिसको तुमने लूटा है पड़ोसियों
वो तुम्हारी आबारू तो नहीं।”⁴

साहित्य अकादमी और ज्ञानपीठ पुरस्कार से पुरस्कृत कवि शहरयार से रोज सुबहे आफ़ताब एक ही सवाल करता है, आखिर कब अखबारों में इन दरिदों की दर्दनाक करतूतें शायद होंगी। सर्वेदनहीनता जो अब बढ़ती हुयी मरुस्थल बन चुकी है उसमें इस खून को सोखने की कूवत खत्म हो चली है। इन वाक्यातों को अब तवज्जो चाहिये जनाब—

रोज़नामों के चेहरे
इस ख़बर की सुर्खी से
कब सजाए जाएंगे
रोज़ सुबह को सूरज
चीख-चीख कर मुझसे
यह सवाल करता है।”⁵

मोहम्मद अल्वी खौफ़जदा हैं एक खौफ़ के वक्त—बेवक्त सर उठाने से। ये शहर जो अभी भला चंगा है, आबाद है नियत गति से सांस ले रहा है, कब इसकी सांसों में दगे की धुंध भर जाए। मक़ां, दुकां, मोटर गाड़ियाँ आगजनी की लपेट में हो, लोग बाग का कत्लेआम हो, कुछ तय नहीं!

“ये सब का सब ये बता रहा है
के शहर अच्छा भला रहा है
मगर अभी एक दुकां जलेगी
मगर अभी एक छूरी चलेगी
ये खौफ़ क्यों सिर उठा रहा है”⁶

और जब ये खौफ़ मूर्त रूप ले चुका हो, शहरों में बलवाइयों, दंगाइयों की हूकूमतें कायम हो चुकी हो, तब शहर की गलियों सड़कों, चौराहों का मंजर देखिये—

“शहर की सूनी सड़कों पे लाशें सजी थीं!
और गिद्ध चौक में
आये मेहमानों को
दोनों पर खोल के
वेलकम कर रहा था”⁷

कुमार पाशी सवांदरत हैं बाबरी मस्जिद ध्वंस के पूर्व की अयोध्या से, बीसवीं सदी की उस अयोध्या से जो अपनी नहीं सबकी हुआ करती थी। उनके लिये वह माँ है, वही मक्का—मदीना है, उसकी गलियों बाजारों और नीम के सायों में जहाँ उनका बचपन बीता है उस अयोध्या को वे फिर से जीना चाहते हैं जहाँ राधा है, सीता है और व्याकुल सी मीरा है, कहीं करबला है तो कहीं रामलीला है। वे अयोध्या पर निसार होना चाहते हैं—

“अयोध्या! आ रहा हूँ मैं
मैं तेरी कोख से जनमा
तेरी गोदी का पाला हूँ

तेरी सदियों पुरानी
सांवली मिट्टी में खेला हूँ
X X X
तेरी मिट्टी को पहना है
तेरी मिट्टी को ओढ़ा है
बहुत जी चाहता है
अब तेरी मिट्टी में खो जाऊँ
कई सदियों का जगा हूँ।
तेरी मिट्टी में सो जाऊँ”⁸

पाकिस्तानी कवयित्री किश्वर नाहिन के यहाँ समस्या और विकराल है। साम्प्रदायिकता और उग्र राष्ट्रवाद की वजह से यहाँ की आबोहवा में विषाक्तता तथा वातावरण में गोलियों की तड़तड़ाहट व बम की बारूदी गंध महफूज है। यहाँ हिंसा ही स्थायी भाव हो चुकी है। जिसके कारण यहाँ मानवीयता पर संकट खड़ा हो चुका है, इंसान व इंसानियत क्या होती है यह बताने के लिये यहाँ की नयी पौध को पिछले जमाने का इतिहास पढ़ाना होगा, शिशुओं के बाल सुलभ भाव बोध तक बदल चुके हैं—

“छातियों से लगे बच्चे को
लोरियाँ नहीं, गोलियाँ सुनकर नींद आने लगी है
घरों और गलियों में लाशें न देखें
तो चीख उठते हैं
बात करना भूलने वाले बच्चे
सिर्फ चीख सकते हैं
घरों के आँगनों में हंसी नहीं
कभी धमकते बूट हैं, कभी नकाब पोश
इंसान क्या होता है?”

यह बताने के लिए पिछले जमाने की तारीख पढ़ानी होगी।⁹ बिल्कीस जफ़ीरुल—हसन ने 6 दिसम्बर 1992 की रात का बड़ा डरावना बिम्ब प्रस्तुत किया है, ये काली अंधेरी दहशत गर्द रात अपने डैने खोले उनके ऊपर झपट्टा मारने के लिये आतुर है। उनके लिये घर से बाहर निकलना भी अब मुनासिब नहीं, क्योंकि सड़कों पर, चौराहों पर खूखार भेड़ियों की तादात बढ़ गयी है, उनकी रगों में दौड़ता रक्त जमने जा रहा है, जिन्दगी मानो किसी तहखाने में कैद है और ये दहशत सियाह से भी सियाहतर होते हुये रोशनी तक को ज़ख़ब कर लिया है। फिर भी वे हारी नहीं इन परिस्थितियों से लड़ते हुये इनके विरुद्ध आशा का चराग रोशन करना चाहती हैं—

“उम्मीद—दारोमदार कुल कायनात जिस पर
उम्मीद—दरअस्ल जो खुदा है
सुना है हर शब की सुब्ह होती है
इसे शबे—क़र्ब और बला की
सहर भी आखिर कहीं तो होगी
बुझी हुयी खिड़कियों में कोई चराग
जब तक न सुबह आए”¹⁰

हफ़ीज़ आतिश के यहाँ तो जख़मी रात के बाद सुबह होती रही है मगर धुंधली सी, रोशनी की गुंजाइशें बहुत कम हैं—

“दिन फिर निकल रहा है, मगर ऊँघता हुआ
कातिल सियाह रूखों का लहू सूँघता हुआ”¹¹

अब्दुल्लाह कमाल अपने नज़्म उरूसे-शहरे-वीरां में मुंबई दंगों के दृश्य को बहुत मार्मिकता से पिरोते हैं-

“जमीं से आसमां तक आग की लपेट
धुआं चेहरे, धुआं आंखें,
धुआं चीखें
धुएँ से झाकता सूरज, धुआं किरनं
यहां अब कुछ नहीं, सब कुछ धुआं है”¹²

यानि कि कल तक आबाद मुंबई में आज कातिलों का राज है, उनके आगे बेबस और बेजुबां हो चुकी अवाम हाथ बांधे खामोश खड़ी है। वहाँ दम तोड़ती किलकारियां हैं, बेवाओं की सूनी मांगें हैं, बहुत सारा काला धुआ है जल चुके समान, उजड़ चुके घरों की राख है। कुछ रोशन भी है तो सिर्फ घृणा, नफरत और सदियों पुरानी अदावत की काली आग। अब्दुल अहद साज़ ने दंगे के बाद के हालात को किस तरह उद्धृत किया है-

“फसादे शहर थम गया
फज़ा में बस गई है एक ज़हरनाक खामुशी
हिरास, खौफ, बेबसी”¹³

मतलब कि फसादे-शहर थम तो गया लेकिन उसने बहुत दूरगामी प्रभाव छोड़े हैं। फिज़ा में घुल गयी है एक भयानक सी नीरवता जिसमें पैठ चुकी है हताशा, नाउम्मीदी और भय। दंगों ने लोगों का न केवल जिस्म के स्तर पर, बल्कि, दिल के स्तर पर भी बीमार कर दिया है। उनको उठाते-बैठते, खाते-पीते उन वाक्यातों का स्मरण आते ही मुंह का जायका बदल कर, कसैला हो जाता है। गुलाम मुरतज़ा राही अपनी गज़ल की मार्फत इमामत करते हैं हिन्दू-मुस्लिम दोनों मज़हबों के बीच हिंसा, घृणा, दुष्प्रचार व भ्रान्तियों को खत्म करने की। इनसे इन कौमों का शुभ नही होने वाला, इससे सिर्फ अजनबियत, तन्हाई और मातमी सन्नाटा पसरता है। वे परस्पर सद्भाव और आपसी लगाव की बात करना चाहते हैं, किन्तु सदियों की नफरत फिर राह रोक लेती है-

“नफरत का नफरत से देते रहे जवाब
आखिर और अंधेरा करके बैठ गये
प्यार के इमकानात पर करनी थी तकरीर
नफरत का अंदाजा करके बैठ गये”¹⁴

इस मुल्क के मेयारी शायर निदा फाज़ली दोनों कौमों को समझाना चाहते हैं कि इस फसाद से कुछ हासिल नहीं होने वाला मस्जिद भी वीरान है और मन्दिर भी खामोश। रंग जो प्रतीक हो चुका है दोनों कौमों की पहचान का वो भी कहीं नहीं, है तो सिर्फ और सिर्फ सिसकियाँ और तन्हाइयाँ-

“रंग!
गुलाबी
नीले
पीले
कहीं नहीं है
तुम उस जानिब
मैं इस जानिब
बीच में मीलों गहरा गार

लफ़जों का पुल टूट चुका है
तुम भी तनहा
मैं भी तनहा”¹⁵

अख़्तर-उल-ईमान दर्द के इन्तेहां को भी पार कर चुके हैं, वे अब तंग आ चुके हैं नादिर शाह के दौर से शुरू हुये इस कल्लेआम से जो मुसलसल आज तक जारी है। वे ध्यानाकर्षित करना चाहते हैं कि देश विभाजन के वक्त जब दूध पीते बच्चों को डंटलों की माफिक काटा गया, क्या तुमने नहीं देखा? वक्ष कटी जवां लड़कियों की चीखें क्या तुमने नहीं सुनी? वे अब और इन चीखों, चीत्कारों को नहीं सुनना चाहते इसके लिये वे छिप जाना चाहते हैं किसी तहखाने में या दूढ़ना चाहते हैं ऐसा कोई मार्ग जहाँ इस तरह कि आपदाओं का सामना न हो-

“कोई रास्ता और दूढ़ों
के इस पीर ए करतूत के तेज़
नज़रों से बचकर
निकल जाएं और उसकी
जद में न आएँ कभी हम”¹⁶

अरमान नज़्मी के यहाँ तो दर्द का दरिया ही रवां है उनका यह दर्द व्यक्त हुआ इबादतगाहों के ध्वंसों के माध्यम से। वे कहते हैं कि उफ़ तादगी की राह में अपने क्रन्दन से मुक्ति हेतु, बचाव हेतु खड़ी, ये उजड़ चुकी मस्जिदें हमें आवाज़ दे रही है, उनके क्षतिग्रस्त मेहराब और सर झुकाए खड़ी मीनारें हमारी घायल जिन्दगी की पुख्ता सबूत हैं। कभी पाठशालाओं की चहल-पहल से आबाद रहने वाली मस्जिदों की गुंबद अब मौन हैं जो मस्जिद हमारे अस्तित्व और अस्मिता की पहचान की प्रतीक थी उन्हीं पर कहर बरपा है और मुश्किल यह कि हम बेबस हैं, लाचार हैं-

“उफ़ तादगी की राह मे सुनसान मस्जिदें
कुछ कह रही है हमसे ये वीरान मस्जिदें
मेहराब-ओ-दर शिकस्ता तो मीनारें सरनिगू
मजरूह जिन्दगी का है एलान मस्जिदें”¹⁷

अयूब शाहिदी इन प्रयोजित हादसों को बरजते हुए आने वाली नई नस्लों को लेकर चिन्तित हैं। वे अल्ला हो अकबर से बस यही अरदास लगाना चाहते हैं कि हमें अब राष्ट्र प्रेम की ऐसी बख्शीस न दें इस तरह के फसादत न दें, फिर कोई गुजरात न दें। जिसके भय से हमारे बच्चे थरथरा उठते हैं, ख्वाबों में भी, खुदा उनकी किस्मत में, उनके मुस्तकबिल में ऐसी गुमों की रात न दे। ये मज़हबी कट्टरता की विरासत हमारे साथ ही खत्म हो, हमारी आने वाली पीढ़ियों को ऐसी सौगात न दें, उन्हें राग-द्वेष से मुक्त नई सुबह हासिल हो-

“वतन परस्ती का अब ऐसे इनामत न दे
मेरे अल्लाह दोबारा कोई गुजरात न दे
लरज़ से जाते हैं बच्चे हमारे, ख्वाबों में
खुदारा उनके मुकददर में गम की रात न दे
हमारे साथ ही हो दपन मज़हबों के जूनून
हमारी नस्ल के बच्चों में ऐसी बात न दें”¹⁸

चन्द्रभान खयाल अपनी एक लम्बी नज़्म ‘हाँ, वे मुसलमान हैं!’ में बड़ी बेबाकी से ब्राह्मणवाद पर और उनकी बनायी वर्णव्यवस्था पर

चोट करते हुए खबर लेते हैं धर्म के ठेकेदारों की, मठाधीशों की ओर फतवाबाजों की। वह मुखर स्वरों में स्वीकारते हैं कि वे मुसलमान हैं, वे अंग्रेजों की तरह लुटेरे नहीं कि आये लूटे और निकल भागे, वे हमलावर हो के जरूर आये लेकिन यहीं के होकर रह गये। उन्होंने इस मुल्क को अपना समझा इसकी जंगे अजादी में शामिल हुए, शहीद हुए। वे इस मुल्क में आये तो अपने साथ सामाजिक समता जैसे परिवर्तन कामी विचार भी लेकर आये, और अब कहीं नहीं जाने वाले—

“वे मुसावत, मुसावत चिल्लाते आये थे
नया इंकिलाब लाये थे,

X X X

वे मुसलमान हैं

वे रथ या घोड़े पर सवार आतंक नहीं

वे राम से नहीं डरते

लेकिन डरते हैं राम—नाम के सौदागरों से

X X X

हुक्म इल्लाही में मिलावट करने वाले मुल्लाओं से
हां, वे मुसलमान हैं!

दो सौ बरस से ज़ियादः अंग्रेजों से लड़ते रहे

X X X

वे कहीं नहीं जाएँगे

वे पाकिस्तान समेत फिर आएँगे

क्योंकि वे मुसलमान हैं

वे अहले—हिन्दोस्तान हैं”¹⁹

और अन्त में, इन नज्मों और गज़लों में चीख है, क्रन्दन है, गम खौफ और दहशत है तो रोष, आक्रोश नाराजगी और इन वारदातों से अदावत भी है। हो सकता है कि अनुपातिक रूप से खौफ ज्यादा हो, रोष थोड़ा कम, किन्तु इन सबके दरम्याँ जो केन्द्रीय पक्ष है, वह है ज़िगर मुरादाबादी का यह शेर—

उनका जो काम है वो अहले सियासत जाने

मेरा पैगाम मोहब्बत है, जहाँ तक पहुँचे

सन्दर्भ

1. जुबैर रिज़वी, ‘भूमिका (कविताएं/नज़्म/गज़लें)’ हंस, सम्पादक राजेन्द्र यादव, अतिथि सं० असगर वजाहत, वर्ष : 18, अंक 1 (अगस्त 2003 भारतीय मुसलमान, वर्तमान और भविष्य) पृ० सं० 119।
2. राजेन्द्र यादव सम्पादकीय ‘शर्म तुमको मगर नहीं आती’ हंस, वर्ष : 16, अंक : 11 (जून, 2002), पृ०सं० 5।
3. कैफ़ी आजमी, ‘दूसरा बनवास’, हंस, सम्पादक राजेन्द्र यादव, वर्ष : 16, अंक 11 (जून, 2002), पृ० 8।
4. इब्बार रब्बी, ‘मेरे साथ ही चलना है तुझे’, हंस, सं० राजेन्द्र यादव, वर्ष 16 : अंक 11 (जून 2002), पृ०सं० 8।
5. शहरयार, ‘फसादत की जबान से’, हंस, सम्पादक राजेन्द्र यादव, अतिथि सं० असगर वजाहत, वर्ष : 18, अंक : 1 (अगस्त 2003, भारतीय मुसलमान : वर्तमान और भविष्य) पृ०सं० 121।
6. मोहम्मद अलवी, ‘खौफ’, पूर्वोद्धृत, पृ०सं० 122।
7. पूर्वोद्धृत
8. कुमार पाशी, ‘अयोध्या में आ रहा हूँ’, वसुधा, सं० कमला प्रसाद, इजलाल मजीद व अन्य, अंक 53 : जनवरी—मार्च 2002 (समकालीन उर्दू साहित्य पर केन्द्रित) पृ०सं० 117 व 119।

9. किश्वर नाहिद, ‘खौफ की दस्तक’, पूर्वोद्धृत, पृ०सं० 152।
10. बिल्कीस ज़फ़ीरुल हसन, ‘दिसम्बर 1992’ पूर्वोद्धृत पृ०सं० 171 व 172।
11. हफ़ीज आतिश, ‘जख्मीरात’, पूर्वोद्धृत पृ०सं० 193।
12. अब्दुल्लाह कमाल, ‘उरुसे—शहरे—वीरां’, पूर्वोद्धृत पृ०सं० 212।
13. अब्दुल अहद साज़, ‘जले हुए लहू का जाएगा’, पूर्वोद्धृत पृ०सं० 214।
14. गुलाम मुरतज़ा राही, ‘गजल’ पूर्वोद्धृत पृ०सं० 330 व 331।
15. निदा फ़ाज़ली— ‘लफ़्ज़ो का पुल’, पूर्वोद्धृत पृ०सं० 121 व 122
16. अख़्तर—उल—ईमान, ‘राहेफरार’, हंस, सं० राजेन्द्र यादव, अतिथि सं० असगर वजाहत, वर्ष : 18, अंक : (अगस्त 2003 भारतीय मुसलमान, वर्तमान और भविष्य) पृ०सं० 123
17. अरमान नज़्मी, गजल, पूर्वोद्धृत पृ०सं० 126।
18. अयूब शाहिदी, गजल, पूर्वोद्धृत पृ०सं० 128।
19. चन्द्रभान, ख़्याल, ‘हाँ, वे मुसलमान हैं!’, वसुधा, सं० कमला प्रसाद, इजलाल मजीद व अन्य, अंक 53 : जनवरी—मार्च 2002 (समकालीन उर्दू साहित्य पर केन्द्रित) पृ०सं० 203, 204 व 205।